

पितृसत्तात्मक संरचना और महिला जागरूकता के सामाजिक-सांस्कृतिक अवरोध

काली चरण¹, डॉ. आलोक कुमार मीना²

¹सहायक आचार्य, समाजशास्त्र, राजकीय कन्या महाविद्यालय, हनुमानगढ़

²आचार्य, समाजशास्त्र, जोधपुर

सार

भारतीय समाज में महिलाओं की जागरूकता केवल शिक्षा या सूचना की उपलब्धता का प्रश्न नहीं है; वह उस सामाजिक संरचना से गहराई से जुड़ी है जिसमें स्त्री का स्थान परिवार, विवाह, नातेदारी और संपत्ति के नियमों द्वारा पहले से तय कर दिया जाता है। यह शोध-आलेख समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह विश्लेषण करता है कि पितृसत्तात्मक संरचना किस प्रकार महिलाओं की अधिकार-चेतना, निर्णय-क्षमता और सार्वजनिक सहभागिता के मार्ग में अवरोध खड़े करती है। आलेख का तर्क है कि जागरूकता के अवरोध तीन स्तरों पर काम करते हैं: संरचनात्मक (संपत्ति, विवाह और नातेदारी की व्यवस्था), सांस्कृतिक (आदर्श स्त्री की छवि, मर्यादा, इज्जत और पवित्रता की धारणाएँ) तथा मनोवैज्ञानिक-सामाजिक (सामाजीकरण द्वारा आत्मसात की गई अधीनता)। विश्लेषण द्वितीयक स्रोतों, जनगणना एवं सर्वेक्षण-आँकड़ों तथा समाजशास्त्रीय साहित्य पर आधारित है और राजस्थान के ग्रामीण समाज को विशेष संदर्भ के रूप में लिया गया है। निष्कर्ष यह है कि महिला जागरूकता बढ़ाने के लिए केवल साक्षरता-अभियान पर्याप्त नहीं हैं; इसके लिए परिवार और समुदाय के भीतर शक्ति-संबंधों को बदलने वाली बहुस्तरीय रणनीति आवश्यक है।

कुंजी शब्द: पितृसत्ता, महिला जागरूकता, सामाजिक-सांस्कृतिक अवरोध, लैंगिक असमानता, सशक्तीकरण, ग्रामीण राजस्थान

1. प्रस्तावना

समाज की संरचना वह अदृश्य ढाँचा है जो तय करता है कि कौन क्या जानेगा, किससे क्या पूछ सकेगा और कहाँ तक जा सकेगा। भारतीय समाज में यह ढाँचा ऐतिहासिक रूप से पितृसत्तात्मक रहा है, जहाँ वंश पिता के नाम से चलता है, संपत्ति पुरुष-उत्तराधिकारियों के बीच हस्तांतरित होती है, विवाह के बाद स्त्री पति के घर जाती है और परिवार के महत्वपूर्ण निर्णय प्रायः पुरुष मुखिया लेता है। इस व्यवस्था में स्त्री की जागरूकता, अर्थात् अपने अधिकारों, अपनी क्षमताओं और अपने आसपास की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उसकी समझ, एक स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया नहीं रह जाती। वह इस बात पर निर्भर हो जाती है कि परिवार और समाज उसे कितनी जगह देते हैं।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने समानता, गरिमा और अवसर की समानता की प्रतिज्ञा की। अनुच्छेद 14, 15 और 16 लैंगिक भेदभाव का निषेध करते हैं और अनुच्छेद 15(3) राज्य को महिलाओं के पक्ष में विशेष प्रावधान बनाने की शक्ति देता है। इसके बावजूद विधिक समानता और सामाजिक यथार्थ के बीच एक चौड़ी खाई बनी हुई है। बाल-विवाह निषेध अधिनियम, दहेज निषेध अधिनियम, घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम और

हिंदू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 जैसे कानून मौजूद हैं, किंतु अनेक महिलाओं को इनकी जानकारी नहीं होती, और जिन्हें होती है वे भी परिवार तथा समुदाय के दबाव के कारण इनका उपयोग नहीं कर पातीं। यहीं यह प्रश्न उठता है कि जानकारी और जागरूकता के बीच क्या अंतर है। किसी स्त्री को यह पता हो सकता है कि कानून उसे पिता की संपत्ति में हिस्सा देता है, पर यदि भाई से हिस्सा माँगना “परिवार की इज्जत” पर आघात माना जाता है, तो यह ज्ञान व्यवहार में नहीं बदलता। इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से जागरूकता को केवल व्यक्तिगत गुण मानना अधूरा है। वह एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसे संरचना, संस्कृति और शक्ति-संबंध आकार देते हैं। यह आलेख इसी दृष्टि से पितृसत्तात्मक संरचना और महिला जागरूकता के पारस्परिक संबंध की पड़ताल करता है। अध्ययन का औचित्य इस तथ्य में है कि “महिला सशक्तीकरण” पर होने वाली अधिकांश चर्चा या तो नीतिगत योजनाओं तक सीमित रहती है या महिलाओं की कमियों, जैसे निरक्षरता या संकोच, को समस्या का कारण मान लेती है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण इस दृष्टिकोण को पलटकर पूछता है कि वे कौन-सी सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं जो महिलाओं को जागरूक होने से रोकती हैं, और इन्हें बनाए रखने में किन समूहों के हित जुड़े हैं।

2. अध्ययन के उद्देश्य, शोध प्रश्न और पद्धति

उद्देश्य। अध्ययन के मुख्य उद्देश्य हैं: (1) पितृसत्ता की समाजशास्त्रीय अवधारणा और उसके प्रमुख संस्थागत रूपों को स्पष्ट करना; (2) महिला जागरूकता के मार्ग में आने वाले संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवरोधों की पहचान करना; (3) राजस्थान के ग्रामीण संदर्भ में इन अवरोधों की अभिव्यक्ति का विश्लेषण करना; और (4) जागरूकता को सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में सशक्त करने हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

शोध प्रश्न। आलेख तीन प्रश्नों के उत्तर खोजता है। पहला, पितृसत्तात्मक संस्थाएँ, जैसे परिवार, विवाह और संपत्ति-व्यवस्था, महिलाओं की सूचना, शिक्षा और अधिकार-चेतना तक पहुँच को किस प्रकार सीमित करती हैं। दूसरा, कौन-से सांस्कृतिक मूल्य और प्रतीक इस सीमा को वैध बनाते और स्थायी रखते हैं। तीसरा, क्या महिलाएँ स्वयं इन अवरोधों के भीतर प्रतिरोध या समझौते की रणनीतियाँ विकसित करती हैं।

पद्धति। यह अध्ययन वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक प्रकृति का है और मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। इसमें भारतीय जनगणना 2011, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS-5, 2019-21) के प्रकाशित आँकड़ों, लैंगिक असमानता पर समाजशास्त्रीय एवं नारीवादी साहित्य तथा ग्रामीण महिलाओं पर हुए गुणात्मक अध्ययनों का उपयोग किया गया है। विश्लेषण में नारीवादी समाजशास्त्र की उन अवधारणाओं को आधार बनाया गया है जो संरचना और संस्कृति, दोनों को एक साथ देखती हैं। इस पद्धति की सीमा यह है कि इसमें प्राथमिक क्षेत्र-कार्य के आँकड़े शामिल नहीं हैं; इसलिए निष्कर्षों को प्रवृत्तियों के रूप में पढ़ा जाना चाहिए, किसी एक गाँव या समुदाय के प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में नहीं।

3. सैद्धांतिक ढाँचा: पितृसत्ता की समाजशास्त्रीय अवधारणा

“पितृसत्ता” शब्द का मूल अर्थ पिता का शासन है, किंतु समाजशास्त्र में इसका प्रयोग उस सामाजिक व्यवस्था के लिए होता है जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व संस्थागत रूप से स्थापित होता है। सिल्विया वॉल्बी (1990) ने पितृसत्ता को छह परस्पर जुड़ी संरचनाओं के रूप में समझाया है: घरेलू उत्पादन-पद्धति, सवैतनिक श्रम, राज्य, पुरुष हिंसा, लैंगिकता और सांस्कृतिक संस्थाएँ। इस दृष्टि से पितृसत्ता कोई एक नियम नहीं, बल्कि अनेक संस्थाओं का जाल है जो एक-दूसरे को मज़बूत करती हैं।

भारतीय संदर्भ में उमा चक्रवर्ती (2003) ने “ब्राह्मणवादी पितृसत्ता” की अवधारणा दी, जिसके अनुसार जाति-व्यवस्था की शुद्धता बनाए रखने के लिए स्त्री की यौनिकता और गतिशीलता पर नियंत्रण आवश्यक माना गया। अंतर्विवाह,

अर्थात अपनी जाति के भीतर विवाह, तभी संभव है जब स्त्रियों के चुनाव के अधिकार को सीमित रखा जाए। इस प्रकार जाति और लिंग के बीच गहरा अंतर्संबंध बनता है। कमला भसीन (2000) ने भी पितृसत्ता को केवल पुरुष बनाम स्त्री का प्रश्न न मानकर एक विचारधारा और व्यवस्था के रूप में देखा, जो पुरुषों को भी “कठोर पुरुषत्व” की भूमिका में बाँध देती है।

महिला जागरूकता को समझने के लिए दो और अवधारणाएँ उपयोगी हैं। पहली, अंतोनियो ग्राम्शी की “सांस्कृतिक वर्चस्व” (हेजेमनी) की धारणा, जिसके अनुसार प्रभुत्व केवल बल से नहीं, बल्कि सहमति से भी चलता है; जब शोषित वर्ग प्रभुत्वशाली मूल्यों को ही स्वाभाविक मानने लगता है, तब व्यवस्था सबसे अधिक स्थिर होती है। दूसरी, पियरे बूर्दिए (2001) की “प्रतीकात्मक हिंसा” की धारणा, जो बताती है कि अधीनता कई बार इतने सूक्ष्म ढंग से आत्मसात हो जाती है कि पीड़ित उसे हिंसा के रूप में पहचान ही नहीं पाता। देनिज़ कंदियोटी (1988) ने “पितृसत्तात्मक सौदेबाज़ी” की अवधारणा दी, जिसमें महिलाएँ सुरक्षा और सम्मान के बदले व्यवस्था के नियम स्वीकार कर लेती हैं। ये अवधारणाएँ मिलकर बताती हैं कि जागरूकता का अभाव कई बार अज्ञान नहीं, बल्कि सामाजिक अनुकूलन का परिणाम होता है।

4. पितृसत्तात्मक संरचना के रूप: परिवार, विवाह, नातेदारी और संपत्ति

परिवार। परिवार वह पहली संस्था है जहाँ लैंगिक भूमिकाएँ सीखी जाती हैं। भारतीय ग्रामीण समाज में संयुक्त या विस्तृत परिवार की संरचना में निर्णय-शक्ति आयु और पुरुषत्व के क्रम से चलती है। परिवार का मुखिया प्रायः सबसे वरिष्ठ पुरुष होता है और बहू सबसे निचली पायदान पर रहती है। खान-पान, शिक्षा, स्वास्थ्य-सेवा और विवाह जैसे प्रश्नों पर लड़कों को प्राथमिकता मिलती है। यह भेदभाव किसी एक घटना में नहीं दिखता, बल्कि रोज़मर्रा की छोटी बातों में बुना होता है: कौन पहले खाएगा, किसकी पढ़ाई पर खर्च होगा, किसे घर से बाहर जाने की छूट होगी।

विवाह और पितृस्थानिक निवास। भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता पितृस्थानिक निवास है, जिसमें विवाह के बाद वधू पति के घर और प्रायः दूसरे गाँव में जाती है। लेला दुबे (1988, 2001) ने दिखाया है कि इस व्यवस्था में बेटी को “पराया धन” माना जाता है। उसके मायके से संबंध सीमित हो जाते हैं और ससुराल में उसे नए सिरे से स्वीकृति पानी पड़ती है। नई जगह में सामाजिक संपर्कों का अभाव, सास और पति पर निर्भरता तथा “अच्छी बहू” बनने का दबाव उसकी जानकारी और गतिशीलता, दोनों को सीमित करता है। बाल-विवाह इस स्थिति को और गंभीर बनाता है, क्योंकि कम उम्र में विवाह शिक्षा को बीच में ही रोक देता है। NFHS-5 के अनुसार राजस्थान में 20-24 वर्ष की लगभग एक-चौथाई महिलाओं का विवाह 18 वर्ष से पहले हुआ था। यह अनुपात घटा अवश्य है, पर अब भी चिंताजनक है।

नातेदारी और सामुदायिक नियंत्रण। नातेदारी का जाल स्त्री के व्यवहार की निगरानी का सामूहिक तंत्र बन जाता है। गोत्र-बहिर्विवाह, पर्दा या घूँघट प्रथा, और “गाँव की बेटी” तथा “गाँव की बहू” जैसे संबोधन व्यवहार के अलिखित नियम तय करते हैं। इनका उल्लंघन करने पर निंदा, बहिष्कार या हिंसा का भय रहता है। इस सामूहिक निगरानी में स्वयं महिलाएँ, विशेषकर सास और ननद, भी भागीदार होती हैं, जिससे यह नियंत्रण और अधिक वैध प्रतीत होता है।

संपत्ति और आर्थिक निर्भरता। बीना अग्रवाल (1994) ने दक्षिण एशिया में भू-स्वामित्व को महिला सशक्तीकरण की कुंजी माना है। उनके अनुसार भूमि पर नियंत्रण केवल आय का स्रोत नहीं, बल्कि परिवार के भीतर सौदेबाज़ी की शक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार है। हिंदू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 ने बेटियों को पैतृक संपत्ति में समान सहदायिक अधिकार दिया और विनीता शर्मा बनाम राकेश शर्मा (2020) में सर्वोच्च न्यायालय ने इसे

पूर्वव्यापी रूप से लागू माना। फिर भी व्यवहार में बहुत-सी महिलाएँ अपना हिस्सा नहीं माँगतीं या “स्वेच्छा से” भाइयों के पक्ष में हक़-त्याग कर देती हैं, क्योंकि हिस्सा माँगना संबंध तोड़ने जैसा माना जाता है। आर्थिक निर्भरता जागरूकता का सबसे ठोस अवरोध है, क्योंकि जिसके पास अपने संसाधन नहीं, उसके पास असहमति की कीमत चुकाने की क्षमता भी नहीं।

5. जागरूकता के सामाजिक-सांस्कृतिक अवरोध

पितृसत्तात्मक संरचना के ये रूप मिलकर महिला जागरूकता के मार्ग में कई परस्पर जुड़े अवरोध खड़े करते हैं। इन्हें पाँच समूहों में समझा जा सकता है।

1. शिक्षा और सूचना तक असमान पहुँच। जनगणना 2011 के अनुसार भारत में महिला साक्षरता लगभग 65 प्रतिशत थी जबकि पुरुष साक्षरता लगभग 82 प्रतिशत; राजस्थान में यह अंतर और भी बड़ा था, जहाँ महिला साक्षरता लगभग 53 प्रतिशत और पुरुष साक्षरता लगभग 79 प्रतिशत दर्ज की गई। साक्षरता के अलावा भी अवरोध हैं। घर में अखबार, मोबाइल, इंटरनेट और टेलीविज़न पर नियंत्रण प्रायः पुरुषों के पास होता है। अनेक परिवारों में किशोरियों को फ़ोन रखने से रोका जाता है, ताकि वे “बिगड़ें” नहीं। इस प्रकार सूचना का प्रवाह भी लैंगिक रूप से छँटा हुआ है।

2. “इज़्ज़त” और “मर्यादा” की सांस्कृतिक अवधारणा। ग्रामीण समाज में परिवार की इज़्ज़त का बोझ स्त्री के आचरण पर टिका माना जाता है। इसलिए उसका घर से बाहर जाना, किसी पुरुष से बात करना या अपनी राय देना भी “मर्यादा” के प्रश्न से जुड़ जाता है। जो महिला अपने अधिकारों की बात उठाती है, उसे “बेशर्म” या “घर तोड़ने वाली” कहा जा सकता है। इस सामाजिक कलंक का भय जागरूकता को सार्वजनिक अभिव्यक्ति तक पहुँचने से पहले ही दबा देता है।

3. आदर्श स्त्री की छवि और लोक-संस्कृति। पारंपरिक गीतों, कथाओं, व्रतों और मुहावरों में त्याग, सहनशीलता और पतिव्रत को स्त्री का परम धर्म बताया जाता है। “पति परमेश्वर”, “डोली में आना और अर्थों में जाना” जैसी धारणाएँ विवाह में हिंसा सहने को भी गुण बना देती हैं। ग्राम्शी के शब्दों में यह सांस्कृतिक वर्चस्व है: स्त्री अपनी अधीनता को अपनी नियति और अपना कर्तव्य मानने लगती है। यहाँ जागरूकता का अर्थ केवल जानना नहीं, बल्कि अपने सिखाए गए विश्वासों पर प्रश्न उठाना भी है, जो सबसे कठिन कार्य है।

4. आर्थिक और भावनात्मक निर्भरता। जिन महिलाओं का आय पर नियंत्रण नहीं और जिनके पास स्वतंत्र आवास या संपत्ति नहीं, वे घरेलू हिंसा या भेदभाव के विरुद्ध खड़ी होने में असमर्थ रहती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं का बहुत बड़ा श्रम, जैसे खेती, पशुपालन, पानी लाना और बच्चों की देखभाल, अवैतनिक रहता है और “काम” के रूप में गिना ही नहीं जाता। जब श्रम अदृश्य रहता है, तब उससे मिलने वाला आत्म-सम्मान और सौदेबाज़ी की शक्ति भी अदृश्य रहती है।

5. संस्थागत और सामुदायिक बाधाएँ। जो जानकारी उपलब्ध भी है, वह प्रायः ऐसे माध्यमों से पहुँचती है जहाँ महिलाओं की पहुँच कम है, जैसे पुरुष-प्रधान पंचायत बैठकें, चौपाल या सरकारी कार्यालय। पुलिस, अदालत और स्वास्थ्य-तंत्र में भी पुरुष-प्रधान व्यवहार महिलाओं को हतोत्साहित करता है। जाति-पंचायतें और खाप जैसी सामुदायिक संस्थाएँ कई बार महिलाओं के चुनाव, विवाह और पहनावे पर निर्णय देती हैं, जिससे औपचारिक कानून की जानकारी का महत्व घट जाता है।

इन अवरोधों की एक विशेषता यह है कि वे अलग-अलग काम नहीं करते। उदाहरण के लिए, आर्थिक निर्भरता के कारण महिला इज़्ज़त की सीमाएँ स्वीकार करती है; इज़्ज़त की सीमाएँ उसकी शिक्षा और गतिशीलता घटाती हैं; और

कम शिक्षा उसे फिर आर्थिक रूप से निर्भर रखती है। यह एक दुष्चक्र है, जिसे तोड़ने के लिए किसी एक बिंदु पर किया गया हस्तक्षेप अक्सर पर्याप्त नहीं होता।

6. राजस्थान के संदर्भ में विश्लेषण

राजस्थान का ग्रामीण समाज इन अवरोधों का एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ सामंती परंपरा, राजपूत और जाट जैसे भू-स्वामी समुदायों की सामाजिक प्रतिष्ठा, पर्दा और घूँघट की व्यापक प्रथा तथा शुष्क भौगोलिक परिस्थितियों में महिलाओं के कठिन श्रम का मिला-जुला प्रभाव दिखाई देता है। जनगणना 2011 में राजस्थान का लिंगानुपात 928 और बाल लिंगानुपात (0-6 वर्ष) लगभग 888 था, जो राष्ट्रीय औसत से कम है। यह आँकड़ा बताता है कि पुत्र-वरीयता की सोच जन्म से पहले ही स्त्री के जीवन को प्रभावित करने लगती है।

पश्चिमी राजस्थान और श्रीगंगानगर-हनुमानगढ़ जैसे सिंचित क्षेत्रों में भी तस्वीर एक-सी नहीं है। नहरी क्षेत्रों में खेती का स्वरूप, पलायन और शिक्षा की उपलब्धता महिलाओं की स्थिति को कुछ अलग ढंग से प्रभावित करते हैं। जहाँ पुरुषों का रोज़गार के लिए बाहर जाना बढ़ा है, वहाँ महिलाओं पर खेती और घर की ज़िम्मेदारी बढ़ी है, पर निर्णय का अधिकार प्रायः पुरुष परिवारजनों के पास ही बना रहता है। इससे महिलाओं का श्रम बढ़ता है, पर उनकी स्वायत्तता उसी अनुपात में नहीं बढ़ती। यह निष्कर्ष क्षेत्र-विशेष के प्राथमिक अध्ययन से जाँचे जाने योग्य परिकल्पना के रूप में लिया जाना चाहिए।

राजस्थान में महिला जागरूकता के प्रयास भी उल्लेखनीय रहे हैं। 1984 में शुरू हुआ महिला विकास कार्यक्रम, जिसके अंतर्गत “साथिन” ग्राम-स्तर की कार्यकर्ता के रूप में काम करती थीं, और भँवरी देवी का मामला, जिसने 1997 के विशाखा दिशानिर्देशों का मार्ग प्रशस्त किया, दोनों इस बात के प्रमाण हैं कि ग्रामीण महिलाएँ अपनी स्थिति के प्रति जागरूक होकर सामूहिक रूप से प्रतिरोध कर सकती हैं। बाद में बाल-विवाह-विरोधी अभियानों, स्वयं सहायता समूहों और पंचायतों में महिला आरक्षण ने भी जागरूकता के नए अवसर बनाए हैं। इनसे संकेत मिलता है कि अवरोध अटल नहीं हैं; वे तब टूटते हैं जब महिलाओं को सामूहिक मंच, सहयोगी नेतृत्व और संस्थागत समर्थन मिलता है।

इस विश्लेषण से तीन बातें उभरती हैं। पहली, जागरूकता को केवल साक्षरता से मापना भ्रामक है, क्योंकि शिक्षित महिलाएँ भी पारिवारिक निर्णयों से बाहर रखी जा सकती हैं। दूसरी, पितृसत्ता को बनाए रखने में महिलाओं की भूमिका, जैसे सास या ननद के रूप में, यह दर्शाती है कि मुद्दा केवल “पुरुष बनाम स्त्री” का नहीं, बल्कि शक्ति-संरचना का है। तीसरी, प्रतिरोध प्रायः सूक्ष्म और व्यक्तिगत रूप में, जैसे बेटी को पढ़ाने की ज़िद या गुप्त बचत के रूप में, मौजूद रहता है, जिसे सतही सर्वेक्षण पकड़ नहीं पाते।

7. निष्कर्ष और सुझाव

निष्कर्ष। यह आलेख इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि महिलाओं की जागरूकता को सीमित करने वाले कारक व्यक्तिगत नहीं, संरचनात्मक हैं। पितृस्थानिक विवाह, संपत्ति से वंचन, इज़्ज़त की संस्कृति और आदर्श स्त्री की छवि मिलकर एक ऐसा वातावरण बनाते हैं जिसमें जानकारी होना और उसे उपयोग में लाना दो भिन्न बातें बन जाती हैं। कानून और योजनाएँ आवश्यक हैं, पर वे तब तक पूरी तरह प्रभावी नहीं होंगी जब तक परिवार और समुदाय के भीतर शक्ति-संबंध नहीं बदलते।

सुझाव।

1. जागरूकता कार्यक्रमों को केवल महिलाओं तक सीमित न रखकर पुरुषों, सास-ससुर और समुदाय के नेताओं को भी शामिल किया जाए, ताकि परिवार के भीतर संवाद बने।
2. बेटियों के संपत्ति-अधिकार की जानकारी के साथ भू-अभिलेख में उनके नाम दर्ज कराने की सरल प्रशासनिक व्यवस्था की जाए।
3. स्कूलों और महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में लैंगिक संवेदनशीलता और अधिकार-शिक्षा को स्थान मिले।
4. स्वयं सहायता समूहों, आंगनवाड़ी और ग्राम-स्तरीय महिला मंचों को सुरक्षित सामूहिक स्थान के रूप में सुदृढ़ किया जाए।
5. डिजिटल साक्षरता और मोबाइल तक पहुँच को किशोरियों के लिए प्राथमिकता बनाया जाए।
6. आगे के शोध में ग्रामीण क्षेत्रों के प्राथमिक सर्वेक्षण और गहन साक्षात्कार द्वारा इन अवरोधों का स्थानीय स्तर पर परीक्षण किया जाए।